दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक पहला

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वैशाख
2477

मोक्ष की मंडली में भर्ती हो जा!

हे जीव! अब तो भाव की कुलांट मार! सर्वज्ञभगवान का कहा हुआ सत्य सुनना चाहता हो तो जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र है वैसा ही तू भी है–इसको स्वीकार कर! 'ना' मत कहना। प्रथम ही में से हाँ आयेगी अर्थात् पूर्ण का आदर करनेवाला पूर्ण हो जायेगा। 'मैं विकाररहित हूँ और तू भी विकार–उपाधिरहित ज्ञानानंद भगवान है'—इसप्रकार तेरे आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके – निर्णय कराके, आत्मस्वभाव कैसा है, वह सुनाते हुए आचार्यदेव मोक्ष–मंडली की स्थापना (प्रारंभ) करते हैं। (तू भी आत्मा की रुचि से 'हाँ' कहकर मोक्ष की मंडली में भर्ती हो जा!)

[समयसार–प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

73

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- अनंत भवभ्रमण के मूल का छेदन करनेवाला निश्चय-
सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो ?

2- संसारतत्त्व

3- चैतन्यभगवान के दर्शन करने का आंगन कैसा होता है ?

4- मुक्ति और संसार

5- सौराष्ट्र का एक जागृत तीर्थधाम—सोनगढ़

जीव ने पुण्य की बात सुनी है - धर्म की बात कभी नहीं सुनी !

पुण्य-पाप कैसे होते हैं - यह बात जीव ने अनंतबार सुनी है, किन्तु देहादि से और पुण्य-पाप से पृथक् मैं परावलंबन रहित हूँ - ऐसे भिन्न आत्मा के शुद्धस्वरूप की बात पहले कभी श्रवण नहीं की है.....'पुण्य करो ! पुण्य करो ! पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा' - यह बात त्रिकाल मिथ्या है। पुण्य विकार है, उसमें बंधन है, धर्म नहीं है। धर्म तो पुण्य-पाप रहित आत्मा में है, उसकी प्रथम श्रद्धा करने के लिए भी पुण्य सहायक नहीं है। पुण्य-पाप रहित स्वभाव, वह धर्म है - ऐसा सुनकर तो अनेक कहते हैं कि अरे, पुण्य का भी अस्वीकार ! उन्हें, पुण्य के बिना आत्मा से ही धर्म होता है - उस बात की खबर नहीं है, कभी सुनी नहीं है, रुचि नहीं है। 'मैं पर से भिन्न शुद्ध ज्ञायक हूँ, एक परमाणुमात्र मेरा नहीं है' - ऐसा माननेवाला ज्ञानी जितनी तृष्णा दूर करेगा, उतनी अज्ञानी दूर नहीं कर सकता। अज्ञानी ने बाह्य से सब कुछ मान लिया है। काय -क्लेश से आत्मधर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा का सहज स्वरूप है, उसमें स्थिरता वह धर्म की क्रिया है। भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें स्थिरता ही ज्ञान की अंतरक्रिया है।

शेष टाइटिल पृष्ठ 3 पर

आत्मधर्म

वैशाख 2477

वर्ष सातवाँ, अंक पहला

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (1)

अनंत भवभ्रमण के मूल का छेदन करनेवाला निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो ?

(श्री वीर सं. 2476, भाद्रपद कृष्णा 12 शनिवार,
श्री समयसार कलश 6-7 तथा गाथा 13 पर प्रवचन)

प्रथम धर्म का प्रारम्भ अर्थात् सम्यग्दर्शन कैसे हो ? उसकी यह बात है। आत्मा में शरीरादि परवस्तुएँ तो नहीं हैं और अवस्था में एकसमय पर्यन्त का विकार संसार है, वह भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु को एकसमय के विकारयुक्त मानना, वह अधर्म है। आत्मा का स्वभाव तो एक समय में सर्व जाने - ऐसे सामर्थ्यवाला है। आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है, उसमें वर्तमान ज्ञान की अवस्था को अंतरोन्मुख करके नित्य स्थायी स्वभाव के साथ एकरूप करना और पूर्ण चैतन्यद्रव्य को श्रद्धा में स्वीकार करना, उसका नाम धर्म का प्रारम्भ है।

ऐसे परिपूर्ण आत्मा को जो माने, उसे कैसी मान्यता छोड़ना पड़ेगी ? सारी विपरीत मान्यता को छोड़ना पड़ेगा। निमित्त से, पर से या विकार से जो धर्म मानें-मनायें, ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता तो पहली ही बार में छोड़ देना चाहिए और वर्तमान ज्ञान की अपूर्ण दशा के आश्रय से कल्याण होता है - यह मान्यता भी छोड़ देना चाहिए। आत्मा में निमित्त आदि परवस्तु का अभाव है, क्षणिक विकार का निषेध है और अपूर्ण पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है। आठ वर्ष की राजकुमारियों को भी अंतर में ऐसा यथार्थ भान होता है। इसलिए हमने तो गाँव में जन्म लिया है, अल्प बुद्धिवाले हैं और हमारा अधिकांश समय तो व्यापार-धंधे में ही चला गया, अब हमें ऐसा आत्मा कैसे समझ में आ सकता है - ऐसा मानकर नहीं बैठ रहना चाहिए। सभी समझ सकें - ऐसा आत्मा है। प्रत्येक

आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य भरा है, परन्तु अंतर में दृष्टि डालना चाहिए। अंतर में दृष्टि डालने से कृतकृत्य कर दे – ऐसी वस्तु है, मात्र दृष्टि डालने से कृतकृत्य कर दे – ऐसा भगवान आत्मा चैतन्य का भंडार है।

कोई ऐसा माने कि अल्प विकासवाली क्षयोपशमदशा, क्षायिकभाव का कारण होती है तो वह भी पर्यायबुद्धि–व्यवहार की मुख्यतावाला व्यवहाररमूढ़ है। अखण्ड परिपूर्ण आत्मा के आश्रय बिना क्षायिकभाव प्रगट नहीं होता। जिस जिज्ञासु को ऐसा परिपूर्ण आत्मा मानना हो, उसे निमित्त से और विकार से धर्म माननेवाले कुदेव–कुगुरु आदि की विनय छोड़ना चाहिए, उनका आदर छोड़ना चाहिए, उनकी प्रशंसा छोड़नी चाहिए और अपनी पर्याय में सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की प्रशंसादि का जो शुभभाव हो, उस शुभराग की प्रशंसा भी छोड़ देना चाहिए, उस राग को धर्म का कारण नहीं मानना चाहिए, और ज्ञान के वर्तमान विकास की प्रशंसा या अहंकार भी छोड़ना चाहिए। यदि वर्तमान अल्प विकास को ही पूर्ण स्वरूप माने तो उसकी प्रशंसा और अहंकार हुए बिना नहीं रहता, किन्तु जो जीव परिपूर्ण अखण्ड चैतन्यतत्त्व को माने, वह अल्प विकास को अपना पूर्ण स्वरूप नहीं मानता, इससे उसे उसका अहंकार या प्रशंसा नहीं होती और इससे वह वर्तमान पर्याय को अभेदस्वभावसन्मुख करके उसकी प्रतीति करता है – यही निश्चय सम्यग्दर्शन है, यही प्रथम अपूर्व धर्म है।

वर्तमान ज्ञान के विकास जितना ही अपने को मानकर न रुके और वर्तमान ज्ञान को अंतर स्वभावोन्मुख करे तो अपूर्णता या पर्याय की मुख्यता दिखाई नहीं देती – इससे आत्मा परिपूर्ण ही प्रतीति में आता है। इसप्रकार शुद्धनय द्वारा परिपूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेना, सो यथार्थ सम्यग्दर्शन है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि – 'आत्मा ज्ञानमात्र है, आत्मा ज्ञाता–दृष्टा है' – ऐसा मान लिया, वह सम्यग्दर्शन है या नहीं ? तो कहते हैं कि ऐसी ओधिक मान्यता नहीं चलेगी। सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा कहा है, वैसा पहिचानकर रुचि अंतर में ढले तथा द्रव्यस्वभाव में पर्याय की अभेदता हो, तब आत्मा को ज्ञाता–दृष्टा माना जाता है, इसके अतिरिक्त 'आत्मा को ज्ञाता–दृष्टा मान लिया' ऐसा कहे तो उससे कहीं सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता। पर्याय अन्तरोन्मुख होकर उसका वेदन–अनुभवन होना चाहिए।

अहो ! सारा जीवन विषय-कषाय में बिता दिया, शरीर के भोग और पोषण में जीवन बिताया और आत्मा की दरकार किए बिना जीवन को मिट्टी में मिला दिया। तथापि यदि वर्तमान में उस रुचि को बदल दे और आत्मा की रुचि करे तो वह समझ में आये बिना न रहे। आठ-आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि राजकुमारियाँ भी अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानती हैं कि अहो ! हम तो चैतन्य हैं, अपने आत्मा को सिद्ध भगवान से किंचित् नीचा मानना हमें पसन्द नहीं है, हम अपने आत्मा को परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अंतर स्वभावोन्मुख दृष्टि होने से आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मभान होता है, इसलिए हमारी समझ में यह नहीं आयेगा - ऐसा कदापि नहीं मानना चाहिए। सभी आत्मा चैतन्यस्वरूप हैं और परिपूर्ण समझ सके - ऐसी शक्ति प्रत्येक आत्मा में भरी है।

आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा अनुभव किए बिना, मात्र आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा मान लेने से सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता, क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्र है - ऐसा तो नास्तिकों के अतिरिक्त अन्य सभी मतवाले मानते हैं। इसलिए श्री सर्वज्ञभगवान की वाणी में जैसा आत्मा कहा है, वैसा निर्णय करना चाहिए। श्री सर्वज्ञभगवान एक समय में तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं - ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कितना बड़ा कहा है ? जैसे वे स्वयं पूर्ण हैं, उतना ही आत्मा को कहा है, उससे अपूर्ण नहीं कहा। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न एक ही साथ ज्ञात होती हैं - ऐसे सर्वज्ञ भगवान आत्मा का स्वरूप अपूर्ण या विकारी नहीं बतलाते, किन्तु प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है - ऐसा सर्वज्ञ भगवान बतलाते हैं। इसप्रकार, आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप बतलानेवाले श्री सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं, उनके साधक संतों की दशा कैसी होती है और उनकी वाणी कैसी होती है - ऐसी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान प्रथम करना चाहिए। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि - हे भाई ! यदि तुझे धर्म करना हो तो तुझे अपने आत्मा को अपूर्ण या विकारी मानना योग्य नहीं है। यदि तू आत्मा को अपूर्ण या विकारवाला ही मान लेगा तो अपूर्णता और विकार तेरे आत्मा में से कैसे दूर होंगे ? आत्मा को अपूर्ण मानने से अपूर्णता दूर नहीं होती, किन्तु पूर्ण आत्मा की श्रद्धा करने से अपूर्णता क्रमशः दूर हो जाती है। प्रत्येक आत्मा प्रभु है, पूर्ण सामर्थ्यवान है, अवस्था में भले ही अपूर्णता हो, लेकिन सदैव अपूर्णता बनी रहे-पूर्णता प्रगट ही न हो - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर्याय से भी परिपूर्ण होना प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है। प्रत्येक आत्मा निर्लेप, निर्दोष, परिपूर्ण परमात्मा है - ऐसा भगवान की वाणी में आया है। ऐसे अपने पूर्ण आत्मा

को पहिचान कर उसके अनुभव से ही सम्यग्दर्शन होता है और तभी धर्म का प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

श्री अरिहंत भगवान कहते हैं कि अहो ! पूर्ण चैतन्यघन स्वभाव पर दृष्टि रखकर अंतरमुख एकाग्र होने से हमने केवलज्ञान प्रगट किया है, प्रत्येक जीव के अंतर में चैतन्य-सागर छलाछल भरा है, उसका अंतर्दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है। परिपूर्ण चैतन्य आत्मा है, उसका भान किए बिना व्यवहार से अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा से यथार्थ सम्यक्त्व नहीं होता।

अपना हित करने के लिए यह बात है। पर का तो कोई कर ही नहीं सकता, अज्ञानी मात्र अभिमान करके भटकता है। आत्मा का कल्याण कैसे हो, उसकी यह बात है। भाई ! तू अपना तो कर, अपना तो सुधार। अपने हित के लिए अपने अंतरमुख स्वभाव में देख...। अपने पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में ले। भाई ! यह देह तो क्षणमात्र में छूट जायेगी। अवस्था में अल्पता होने पर भी, पूर्ण चैतन्यतत्त्व का स्वीकार और अल्पता का निषेध करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है। अहो! आत्मतत्त्व की यह बात तो जगत को सर्वप्रथम समझने जैसी है, दूसरा कुछ आये या न आये लेकिन यह बात अवश्य समझ में आना चाहिए। इसे समझे बिना कल्याण नहीं हो सकेगा। इसे समझेगा तो भवबंधन से मुक्त हो जायेगा।

सर्वज्ञ भगवान की वाणी में वस्तुस्वरूप की परिपूर्णता घोषित की है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण-परमेश्वर है, उसे किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है और प्रत्येक जड़ परमाणु भी अपने स्वभाव से परिपूर्ण - जड़ेश्वर भगवान है। जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र और परिपूर्ण है, कोई तत्त्व किसी अन्य तत्त्व का आश्रय नहीं चाहता - ऐसा समझकर अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा करना, वह सम्यक्त्व है।

अब बारहवीं गाथा के सातवें कलश में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि -

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्तित्।
नवतत्त्वगतत्त्वेपि यदेकत्वं न मुंचति।।7।।

अर्थ - तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है, जो कि नवतत्त्व में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

जो भिन्न आत्मज्योति थी, वही प्रगट हुई है। पर्याय की दृष्टि से देखने पर नवतत्त्व दिखाई देते हैं, किन्तु एकरूप चैतन्यज्योतिस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें नवतत्त्व के भंग नहीं हैं और नवतत्त्व के लक्ष से होनेवाले राग से भी वह पृथक् है। ऐसे शुद्ध आत्मा को देखनेवाले ज्ञान को शुद्धनय कहते हैं। भगवान ! तू अंतर से श्रद्धा-ज्ञान करके वस्तु को पहिचान तो सही ! नवतत्त्व की रागमिश्रित श्रद्धा, वह पुण्यबंध का कारण है; धर्म का कारण नहीं है। नवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा है, वह व्यवहारसम्यक्त्व शुभराग है, उसे यथार्थ सम्यक्त्व मानना मिथ्यात्व है। अहो ! आचार्यदेव कहते हैं कि एक अखण्ड चैतन्यस्वभाव की दृष्टि छोड़कर मात्र नवतत्त्व के भेद का अनुभव करना भी मिथ्यात्व है, तो फिर जो कुदेवादि की श्रद्धा करे, उसकी तो बात ही कहाँ रही ? उसकी तो यहाँ बात ही नहीं ली है।

अभेदस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् धर्मात्मा को नवतत्त्व आदि के विकल्प उठते हैं, तथापि उसकी दृष्टि भिन्न एकाकार आत्मज्योति पर है। नवतत्त्व का ज्ञान करने पर भी आत्मज्योति अपने एकत्व को नहीं छोड़ती अर्थात् धर्मी की दृष्टि एकरूप आत्मज्योति पर से नहीं हटती।

जो जीव मात्र नवतत्त्व का रागसहित विचार करता है और भिन्न एकरूप आत्मा का अनुभवन नहीं करता, वह तो मिथ्यात्वी है। नवतत्त्व के भेद में रहने से एकरूप आत्मा समझ में नहीं आता, परन्तु एकरूप आत्मा का अनुभव करने से उसमें नवतत्त्व के रागरहित ज्ञान का समावेश हो जाता है।

यह बात मेरी समझ में नहीं आयेगी - ऐसी बुद्धि रखकर सुने तो उसको समझने का यथार्थ प्रयत्न कहाँ से होगा ? अभी इस समय यह बात मैं सुन रहा हूँ, लेकिन पूर्ण आत्मा की इतनी बड़ी बात कल मुझे याद रहेगी या नहीं ? इसकी भी जिसे शंका हो, वह तो - 'अहो, यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है, अंतरर्मुहूर्त में मैं एकाग्र होकर इसका अनुभव प्रगट करूँगा' - ऐसी रुचि और नि:शंकता कहाँ से लायेगा ? और उस नि:शंकता के बिना उसका प्रयत्न अंतरोन्मुख कैसे होगा ? अभी क्या कहा है, उसे अंतर में ग्रहण करके याद रहने की भी जिसे शंका, उसे अंतरोन्मुख होकर वैसा अनुभव कहाँ से हो ? मैं परिपूर्ण, केवली भगवान जैसा हूँ, एकसमय में अनंत लोकालोक को जानने का सामर्थ्य मुझमें ही है, अंतर में एकाग्र होऊँ इतनी ही देर है - इसप्रकार अपनी शक्ति का विश्वास करना चाहिए।

नवतत्त्व के भेद की श्रद्धा छोड़कर, अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से रागरहित श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यक्त्व है। अखंड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से नवतत्त्व का रागरहित ज्ञान हो जाता है।

अथ, इसप्रकार भूतार्थ से एक आत्मा को जानना, वह सम्यग्दर्शन है – ऐसा कहते हैं –

'भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथ आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष वह सम्यक्त्व है।'

यहाँ नवतत्त्वों को भूतार्थनय से जानने को सम्यक्त्व कहा है, उसमें भूतार्थ कहने से नवतत्त्व के भेद का लक्ष छोड़कर अंतर चैतन्यस्वभाव की ओर ढलना आया। भूतार्थ एकरूप स्वभाव की ओर ढलकर नवतत्त्वों का रागरहित ज्ञान कर लिया अर्थात् नवतत्त्वों में से एकरूप अभेद आत्मा को पृथक् कर लिया, उसकी श्रद्धा की, वही वास्तव में सम्क्त्व है।

अकेले नवतत्त्व के लक्ष से रुककर नवतत्त्वों की श्रद्धा करने को भी मिथ्यात्व कहा है। अभी जिसे यह भी खबर नहीं है कि नवतत्त्व क्या है, उसे तो व्यवहारसम्यक्त्व भी नहीं है। व्यवहारसम्यक्त्व के बिना तो सीधा निश्चयसम्यक्त्व किसी को हो नहीं जाता और व्यवहार सम्यक्त्व से भी निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता। पहले जीव-अजीवादि नवतत्त्व क्या हैं, वह समझना चाहिए। मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ। नवतत्त्व में पहला जीवतत्त्व है। जीव किसे कहा जाये ? शरीरादि जीव नहीं है, राग भी वास्तव में जीव नहीं है और अल्प ज्ञानदशा भी जीवतत्त्व का यथार्थ स्वरूप नहीं है। जीव तो परिपूर्ण चैतन्यमय अनंतगुणों का एकरूप पिण्ड है। मैं परिपूर्ण परमात्मा जैसा हूँ, रागादि रहित चैतन्यस्वरूप हूँ, निमित्त का मुझमें अभाव है और रागादि का निषेध है, इसप्रकार पहले रागसहित विचार से जीव को मानता है, उसके भी अभी मिथ्यात्व है। तब फिर, पहले जो व्यवहार से-राग मिश्रित विचार से इतना भी नहीं जानता, वह एक चैतन्यतत्त्व का अनुभव किसप्रकार करेगा ? वस्तुस्वरूप को समझते और समझाते हुए नवतत्त्व के भेद के विकल्प आये बिना नहीं रहते। भेद किए बिना किसप्रकार समझाया जाये ? लेकिन उस भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं जीव हूँ, शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीवतत्त्व हैं। वह अजीव वस्तु अपने द्रव्य-गुण-

पर्याययुक्त है, इससे उसकी पर्याय उसके अपने कारण से ही होती है, मुझसे नहीं होती। शरीर की क्रिया जीव के कारण नहीं होती, इससे जीव और अजीवतत्त्व पृथक् हैं। इसप्रकार उन तत्त्वों को पृथक्-पृथक् माने, तब जीव-अजीवादि तत्त्वों को व्यवहार से माना कहा जाये। नवतत्त्वों को नवरूप से भिन्न-भिन्न मानना, उसे व्यवहारश्रद्धा कहते हैं, किन्तु जीव-अजीव सबको एकमेक मानना अर्थात् जीव-अजीव का कार्य करता है - ऐसा मानना, वह व्यवहारश्रद्धा नहीं है। आत्मा, शरीर की क्रिया कर सकता है - ऐसा जो मानता है, उसे तो जीव-अजीव की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। नवतत्त्वों को नवतत्त्वरूप से पृथक् मानना, उस रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है और नवतत्त्व के विकल्प से पार होकर अभेद चैतन्यतत्त्व को अंतरदृष्टि करे, वह परमार्थश्रद्धा है। यह अपूर्व बात है।

प्रश्न - लेकिन साहब, आत्मा को समझने में बुद्धि काम नहीं करती ?

उत्तर - भाई ! दूसरे कामों में तो बुद्धि काम करती है न ? - तब फिर दूसरे कार्यों में बुद्धि लगती है और आत्मा में नहीं लगती - इसका कोई कारण ? सांसारिक अभ्यास और व्यापार-धंधे आदि में तो बुद्धि लगाता है और अंतरचैतन्य को समझने में बुद्धि नहीं लगाता तो उसे उसमें अपना हित भासित नहीं हुआ है। चैतन्यस्वरूप को समझने में ही मेरा हित है - ऐसा यदि यथार्थ भासित हो तो उसमें बुद्धि लगे बिना रह ही नहीं सकती। अहो ! इसमें मेरा कल्याण है, इसमें मेरे प्रयोजन की सिद्धि है - इस प्रकार उसे चैतन्यतत्त्व की महिमा भासित नहीं हुई है। यदि चैतन्य की रुचि हो तो उसमें बुद्धि लगे बिना न रहे और समझ में न आये - ऐसा भी नहीं हो सकता।

संसारतत्त्व (1)

श्री प्रवचनसार गाथा 271 पर लाठी में वीर सं. 2476के जेठ शुक्ला 3-4 के दिन पूज्य श्री स्वामीजी का प्रवचन

संसारतत्त्व क्या है, वह बात आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं –

समयस्थ हे पण सेवी भ्रम अयथा ग्रहे जे अर्थने।
अत्यंत फल समृद्ध भावीकालमां जीव ते भमे ॥271॥

जिनमत का द्रव्यलिंगी साधु होकर भी जो जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा का सेवन करता हे, वह अनंत संसार में परिभ्रमण करता है; उसे यहाँ संसारतत्त्व कहा है। आत्मा पर का करता है और पर, आत्मा का करता है – ऐसा जो मानता हो तथा यह मानता हो कि – शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होगा अथवा अहिंसा आदि पंचमहाव्रत के शुभराग से धर्म होगा – वह जीव भले ही त्यागी-द्रव्यलिंगी साधु हो, तथापि अज्ञान के कारण संसार में भटकता है, अत: वह संसारतत्त्व ही है।

विपरीत श्रद्धावाला आत्मा ही संसारतत्त्व है। संसार क्या है, वह बतलाते हैं। जड़ के संसार नहीं होता और न आत्मा का संसार जड़ में होता है। संसार, आत्मा की विपरीत दशा है। वस्तु स्वरूप की जो विपरीत श्रद्धा करता है – ऐसा मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु – वह संसारतत्त्व है। यहाँ उत्कृष्ट बात में आचार्यदेव ने त्यागी-द्रव्यलिंगी की बात ली है। विपरीत श्रद्धावाले गृहस्थ भी संसार में परिभ्रमण करते हैं, इससे वे भी संसारतत्त्व हैं; लेकिन यहाँ उनकी बात मुख्यरूप से न लेकर द्रव्यलिंगी की बात ली है, उसी में मिथ्यादृष्टि गृहस्थ आदि का समावेश हो जाता है।

प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र है; ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप न जानकर, अविवेक से, 'एक तत्त्व दूरे तत्त्व का करता है' – इसप्रकार तत्त्व को अयथार्थरूप से मानता है, वह विपरीत मान्यतावाला जीव ही संसारतत्त्व है। कोई कहे कि नव तत्त्वों के नाम में तो संसारतत्त्व का नाम नहीं आता; तो क्या वह कोई दसवाँ तत्त्व होगा ? उसका समाधान – नव तत्त्वों के अतिरिक्त दसवाँ तत्त्व संसार में नहीं हो सकता। नवतत्त्व में पुण्य, पाप, आस्रव और बंध – यह चार संसारतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व के संसार नहीं होता और शुद्ध जीवतत्त्व के स्वभाव में भी संसार नहीं होता और संवर, निर्जरा या मोक्षतत्त्व संसार नहीं है। शेष चार तत्त्वों का समावेश संसारतत्त्व में होता है। वह संसारतत्त्व कहाँ होता है ?

शरीर, पैसा, मकान, दुकान या कर्म – यह तो जड़ है, जड़ में संसार नहीं होता। आत्मा की अज्ञानदशा संसार है, वह आत्मा का अरूपी विकारी भाव है, वह आत्मा से बाहर कहीं नहीं होता। अज्ञानी को आत्मा के स्वभाव की तो खबर नहीं है और संसार क्या है – उसका भी भान नहीं है; वह संयोग को ही संसार मानता है। संयोग में स्थित है, इसलिए संसार है और संयोग छूटा, इसलिए संसार छूट गया – ऐसी अज्ञानी की दृष्टि है, वह भ्रांति है और वह भ्रांति ही संसारतत्त्व का मूल है।

संसारतत्त्व अर्थात् चार गति में परिभ्रमण के मूल का सेवन करनेवाला कौन है ? उसकी यह बात है। ऐसे संसारतत्त्व को जानकर उन भावों का सेवन छोड़ने के लिए यह वर्णन है। आत्मा का और शरीरादि का जैसा स्वतंत्र स्वभाव है, वैसा न मानकर, एक-दूसरे का कुछ करते हैं – ऐसा विपरीत माने और पर की दया का जो भाव है, वह पुण्य है, तथापि उसे धर्म माने तो वह तत्त्व का विपरीत ग्रहण है। इसप्रकार अपने अविवेक से तत्त्व का विपरीत निर्णय करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिंगी साधु हुआ हो, तथापि उसे चार गति के परिभ्रमण की जड़ के बनाए रखनेवाला संसारतत्त्व माना गया है। संसार की पेढ़ी कहाँ चल रही है ? द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि के पास वह संसारतत्त्व है; संसारतत्त्व की पेढ़ी का नायक द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि साधु है।

प्रवचनसार की इन अन्तिम पाँच गाथाओं को श्री अमृतचंद्रसूरि ने पाँच रत्नों की उपमा दी गई है, वे शास्त्र के मुकुट समान हैं और उनमें वीतराग शासन का रहस्य भरा है। कलश द्वारा पाँच गाथाओं की महिमा का वर्णन करते हुए श्री आचार्यदेव बतलाते हैं कि – 'इस शास्त्र को मुकुट के अलंकार समान इन पाँच सूत्रोंरूप निर्मल पाँच रत्न जो कि संक्षेप से अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशित करते हैं, वे विलक्षण (भिन्न-भिन्न) पंथवाली संसार-मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रगट करते हुए जयवंत प्रवर्तमान वर्तें।

उन पाँच में से इस पहली गाथा में संसारतत्त्व का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि द्रव्यलिंगी जैन साधु होकर भी जो तत्त्व का विपरीत निश्चय करते हैं, उन्हें संसार तत्त्व ही जानना। आत्मा के भान बिना मात्र मुनि को आहार देने के शुभभाव से परित संसार हो जाता है – ऐसा जो मानते हैं, वे भले ही त्यागी हों, तथापि संसारतत्त्व ही हैं। बाह्य त्यागी हो गया, इसलिए मोक्षमार्गी हो गया – ऐसा नहीं है। बाह्य क्रियाएँ मैं करता हूँ तथा शुभ-पुण्य से धर्म होता है – इसप्रकार जो पदार्थ का अयथार्थ निश्चय करता है, वह मिथ्यात्व मोह के कारण अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा – इससे वह संसारतत्त्व है।

आत्मा के धर्म और अधर्म कहीं बाह्य में नहीं रहते, किन्तु वे दोनों आत्मा की दशा में ही हैं। उनमें अधर्म अर्थात् संसारतत्त्व की इस गाथा में पहिचान कराते हैं। आत्मा की अवस्था में जो दयादि विकारभाव हों, उन्हें धर्म माने अथवा जड़-पैसे से पुण्य होता है - ऐसा माने तो वह मिथ्यामान्यता है और वह संसार है। पैसे से पुण्य नहीं होता, किन्तु जीव के मंद राग से पुण्य होता है और यदि पैसा खर्च करने में मान-प्रतिष्ठा के पोषण का अशुभभाव हो तो पाप होता है; उसीप्रकार मंद राग करे तो उससे धर्म नहीं होता, किन्तु पुण्य होता है, तथापि उससे धर्म मानें तो वे विपरीत मान्यतावाले जीव महामोह से मलिन हैं, उनकी विपरीत श्रद्धा में ही संसार भरा पड़ा है, इससे वे ही संसारतत्त्व हैं। यहाँ अभेदविवक्षा से विपरीत मान्यतावाले जीव को ही संसारतत्त्व कहा है। उस जीव को कर्म का उदय विपरीत श्रद्धा नहीं कराता, परन्तु वह स्वयं-अविवेक से तत्त्व को विपरीत श्रद्धा करता है, इससे वह संसार में भटकता है।

यदि बाह्य पदार्थों में जीव का संसार हो तो मरने पर वे बाह्य संयोग छूट जाते हैं, इससे उसका संसार भी छूट जाये और मुक्ति हो जाये। लेकिन ऐसा नहीं है। तत्त्व के संबंध में जीव ने अनादि से विपरीत मान्यता की है, उस विपरीत मान्यता से सतत मोहमल से मलिन वर्तता है और प्रतिक्षण विकारी भावों में ही परिवर्तित होता रहता है, इससे वही संसारतत्त्व है। विपरीत मान्यता ही संसार है, उस मान्यता में अनादिकाल से एक समय भी खण्ड नहीं करता, इससे सतत मोह को एकत्रित करके संसार में भटकता है। यदि एक समय भी उस विपरीत मान्यता को खण्डित (नाश) करके यथार्थ समझ प्रगट करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

पर के कारण पुण्य-पाप मानना, वह यथार्थ पदार्थ से विरुद्ध श्रद्धा है। कसाई गायें लेकर जा रहा हो और कोई करुणाभाव से पाँच सौ रुपये देकर पाँच गायों को छुड़ा दे - वहाँ जो गायों को छुड़ाने का भाव किया, उसे कोई पाप कहे तो वह मिथ्यादृष्टि है; उस करुणाभाव का तो उसे पुण्य ही है। कसाई फिर पाँच सौ रुपये में अधिक गायें खरीदेगा, उस हिंसा का पाप गायें छुड़ाने वाले को लगेगा - ऐसा कोई मानता हो तो वह बात बिलकुल मिथ्या है। गायें छुड़ानेवाले को तो उससमय के करुणाभाव का पुण्य हुआ। कसाई फिर चाहे जो करे, उसका पाप उसे नहीं है।

और कोई ऐसा कहे कि रुपये खर्च किये, इसलिए पुण्य हुआ, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। जो पुण्य हुआ, वह रुपयों के कारण नहीं, किन्तु उसके शुभभाव से हुआ है।

और तीसरा कोई, पैसे से पुण्य हुआ – ऐसा न माने और शुभभाव से पुण्य माने, किन्तु उस पुण्य से धर्म मनाये तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। इन तीनों प्रकार की मान्यतावाले जीवों की श्रद्धा पदार्थ से विपरीत है।

पहला प्रकार करुणाभाव होने पर भी वहाँ पाप मानता है – उसे आत्मा के शुभ-अशुभ परिणाम का भान नहीं है। पुण्य-पाप तो आत्मा के परिणामों से होते हैं, उसका भी उसे भान नहीं है।

दूसरा प्रकार, जड़ की क्रिया से आत्मा को पुण्य-पाप मानता है, उसे भी जड़ से भिन्न आत्मा के परिणामों का भान नहीं है।

तीसरा प्रकार, शुभभाव से धर्म मनाता है, उसे विकार से भिन्न आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है।

यह सब मिथ्यादृष्टि हैं, इनका समावेश संसारतत्त्व में होता है। जो जीव, पर से पुण्य-पाप नहीं मानता, किन्तु अपने शुभ-अशुभ परिणाम से पुण्य-पाप मानता है, तथा उन पुण्य-परिणामों को धर्म नहीं मानता, पुण्यरहित आत्मस्वभाव को जानता है, वह जीवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धावाला सम्यग्दृष्टि है, वह मोक्ष का साधक है।

पैसादि परपदार्थों से आत्मा को पुण्य-पाप होते हैं – यह बात स्थूल अज्ञान है। एकेन्द्रिय जीव को बाह्य में कुछ भी सामग्री न होने पर भी वह अपने स्वतंत्र वीर्य की स्फुरणा से शुभभाव करता है। किसी एकेन्द्रिय जीव को ऐसा पुण्य होता है कि वहाँ से निकलकर सीधा अरबों रुपये की आमदनी वाला राजकुमार होता है। उसके पास कहाँ पैसादि है ? भीतर परिणामों में कुछ कषाय की मंदता से शुभभाव होने पर उसके फल में राजा होता है। इसलिए बाह्य-साधन से पुण्य होता है – ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो, तब तो एकेन्द्रिय जीव वहाँ से कभी निकल ही नहीं सकता। ऐसा वस्तुस्वरूप होने पर भी परवस्तु से पुण्य या धर्म मनाता हो – ऐसा द्रव्यलिंगी साधु – वह संसारतत्त्व है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु में अभाव है अर्थात् एक परमाणु दूसरे परमाणु के आधार से नहीं है। एक तत्त्व का दूसरे में अभाव होने पर भी एक दूसरे का स्पर्श करते हैं या एक-दूसरे का कार्य करते हैं – ऐसा मानना, वह भ्रम है; वे विपरीत मान्यतावाले जीव भले ही द्रव्यलिंगी हुए हों, तथापि अनंतकाल तक अनंत भावांतररूप संसार परिभ्रमण करेंगे – इससे उन्हीं को यहाँ संसारतत्त्व कहा है। **(क्रमशः)**

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (2)

चैतन्यभगवान के दर्शन करने का आँगन कैसा होता है?

(वीर सं. 2476भाद्रपद शुक्ला 13 रविवार)

निश्चय अर्थात् सच्चा सम्यक्त्व किसे कहना ? – वह सम्यक्त्व अनंत काल से संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीवों ने कभी एक क्षणमात्र भी प्राप्त नहीं किया है। वह सम्यग्दर्शन कैसे हो – उसका उपाय यहाँ कहा जाता है। आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसको यथार्थ समझ कर अंतर में उसका मंथन करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है और वह प्रथम धर्म है।

शरीरादि परवस्तु मैं हूँ और जो विकार है, वह मैं हूँ – ऐसा मानकर जीव अपने ध्रुव चैतन्य स्वभाव से च्युत हो जाता है, उसे भगवान मिथ्यात्व अर्थात् अधर्म कहते हैं। वह विपरीत मान्यता हटाकर ध्रुव चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन तो कार्य है, उसका क्या उपाय है ? स्वभाव के ओर की रुचि करके उसका अंतरविचार करना, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है। शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि और लक्ष है, वही सम्यग्दर्शन का निश्चय उपाय है।

श्री सर्वज्ञदेव कहते हैं कि – हम ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। अंतरमुखस्वभाव का विश्वास करके एकाग्रता होने से हमारी पूर्ण शुद्धि रागरहित केवलज्ञानदशा प्रगट हुई है। तू भी हमारा जैसा ही आत्मा है और तुझमें भी हमारे जितना ही परिपूर्ण सामर्थ्य है। हमारी अवस्था में से रागादि दूर हो गये हैं, क्योंकि वह हमारा स्वरूप नहीं था, तो तेरी अवस्था में जो मिथ्यात्व–रागादि है, वह तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो विकाररहित ध्रुव चैतन्यस्वरूप है, इसप्रकार अपने परमार्थस्वभाव का अनुमान करके उसकी रुचि कर! वही सम्यग्दर्शन का उपाय है। शरीर–मन–वाणी आदि तो जड़ हैं, अजीव हैं, वे आत्मा से पृथक् हैं – ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है और क्रोधादि विकारीभाव भी नवीन–नवीन करे तो होते हैं, न करे तो नहीं होते – ऐसा अनुभव में आता है। पहले काम–क्रोधादि की तीव्र विकार वासना हुई, उसका वर्तमान ज्ञान में विचार करने से उसका ज्ञान होता है, लेकिन वह वर्तमान में प्रगट नहीं होती, इसलिए वह विकारी वासना आत्मा का यथार्थस्वरूप नहीं है, किन्तु ज्ञान ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है। इसप्रकार अनुमान द्वारा आत्मा के स्वभाव को लक्ष में लेकर निश्चित् (निर्णय) करना, वह सम्यग्दर्शन का कारण है।

किसी को तीव्र क्रोधावेश में खून करने की वृत्ति उठी और दो-चार खून कर डाले; लेकिन जब वह वृत्ति शांत हो गई, तब उस खून का इकरार करता है; उससमय, पहले खून करने में जो क्रोध का वेग था, वह वर्तमान में नहीं आता; क्योंकि वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है। यह तीव्र विकार की बात की। उसीप्रकार दूसरे जो पुण्य-पाप के विचार आयें, वे दूसरे ही क्षण हट जाते हैं, इसलिए मेरा स्वरूप नहीं है; विकार का ज्ञान करनेवाला मैं स्वयं विकाररहित ज्ञानस्वरूप हूँ, इसप्रकार पहले अनुमान करना चाहिए। वह अनुमान भी यथार्थ है, उसमें गलती नहीं होती। ऐसा जो स्वभाव का अनुमान किया, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

अहो ! अनंतकाल में चैतन्य का शरण कौन है, उसका जीव ने कभी विचार नहीं किया। बाह्य में कोई पदार्थ आत्मा को शरणरूप नहीं है। शरीर भी शरणरूप नहीं है। चैतन्यतत्त्व की अंतरशरण को चूककर बाह्य में शरण मानी, वह मरते समय अशरणरूप से मरता है। ध्रुव चैतन्य स्वरूप को जाने बिना किसकी शरण लेकर शांति रखे ? अरे भाई ! क्या ऐसा ही स्वरूप होगा ? क्या कोई शरणरूप वस्तु नहीं होगी ? अंतर में चैतन्यतत्त्व शरणभूत है, उसका लक्ष कर !

जिसे अपूर्व धर्म करना है, वह जीव, कुदेवादि की मान्यता छोड़कर, प्रथम तो, ज्ञान में आत्म -स्वभाव का यथावत् विकल्पसहित निर्णय करता है, पश्चात् अंतरस्वभावोन्मुख होने से निर्विकल्प अनुभव प्रगट होने पर विशेष दृढ निर्णय होकर सम्यक् प्रतीति प्रगट होती है। इसमें अंतर में आत्मा के विचार की जो क्रिया है, उसका माहात्म्य ज्ञानी को नहीं आता। प्रथम नवतत्त्व के रागमिश्रित विकार बिना सीधा एक आत्मा के अनुभव में नहीं आया जा सकता और एक अभेद आत्मा के अनुभव में वे नवतत्त्व के विकल्प आश्रयरूप नहीं हैं। वर्तमान ज्ञान की दशा अखण्ड चैतन्य की ओर उन्मुख होकर आत्मस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व नवतत्त्व का ज्ञान कैसा होना चाहिए - उसकी बात करते हैं।

मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं; दया, दान, व्रत आदि के भाव पुण्य हैं; पुण्य, जीव नहीं है और जीव, पुण्य नहीं है; अजीव से जीव पृथक् है। - इसप्रकार नवतत्त्व अभूतार्थनय से हैं, उन्हें जैसे हैं, वैसा जानना चाहिए। - यह भी शुभभाव है, कहीं धर्म नहीं है। धर्म तो अंतर में भेद का लक्ष छोड़कर एकरूप परमार्थस्वभाव के अनुभव से होता है; किन्तु उससे पूर्व उपरोक्तानुसार नवतत्त्व के विचाररूप शुभभाव की प्रवृत्ति आये बिना नहीं रहती।

अहो ! जीव ने कभी अपने आत्मा की दरकार नहीं की। जिसप्रकार बैल और गधे सारा जीवन बोझ ढोते-ढोते व्यतीत करते हैं, उसीप्रकार अनेक जीव यह मनुष्य भव प्राप्त करके भी व्यापार-धंधे में या नौकरी-चाकरी करके जीवन व्यतीत करते हैं। पर का तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता, व्यर्थ का अभिमान करते हैं; किन्तु आत्मा कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसका कभी अंतर में विचार नहीं करता। मैं तो जीवतत्त्व त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूँ और शरीरादि अजीव तत्त्व हैं। दोनों तत्त्व भिन्न हैं। बाह्य में पैसा आदि वस्तुओं को लेने-देने की या रसोई आदि की क्रिया जड़ की है, वह मैं नहीं कर सकता। मैं तो ज्ञाता तत्त्व हूँ। जीव और अजीव सदैव भिन्न हैं। इसप्रकार नवतत्त्व का यथार्थ विचार करना भी अभी व्यवहारसम्यक्त्व है और नवतत्त्व के भेद के विकल्प से रहित, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके अनुभव करना सो परमार्थ सम्यग्दर्शन है। श्रेणिक राजा को ऐसा सम्यक्त्व था; उसके फल में संसार का नाश करके एक भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे। आनेवाली चौबीसी में वे प्रथम तीर्थंकर होंगे। उनके व्रतादि नहीं थे, किन्तु यहाँ कहा जा रहा है - वैसा आत्मा का भान था - सम्यग्दर्शन था, इससे वे एकावतारी हुए।

तीर्थ का अर्थ है तरने का उपाय; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तरने का उपाय है और उसकी प्रवृत्ति में नवतत्त्व की श्रद्धा निमित्तरूप है। वह व्यवहारश्रद्धा कहीं मूल स्वरूप नहीं है, वह स्वयं तीर्थ या मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु वह व्यवहारश्रद्धा परमार्थ में जाते हुए बीच में आये बिना नहीं रहती। कोई ईश्वर इस जगत का कर्ता है अथवा तो सब मिलकर एक ब्रह्मस्वरूप ही है आदि कहनेवाले कुतत्त्वों की श्रद्धा से छूटकर, श्री सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नवतत्त्वों की श्रद्धा करना, वह व्यवहारश्रद्धा है, उसमें राग परिणाम है और उस राग रहित होकर अभेद आत्मा की प्रतीति करना, सो परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वह धर्म है।

प्रश्न - ऐसी प्रतीति मरते समय करें तो ?

उत्तर - भाई ! इसी समय तू आत्मा के भान बिना प्रतिक्षण भावमरण में मर ही रहा है; इसलिए उस भावमरण से बचने के लिए आत्मस्वभाव को पहिचान। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि-

क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे
कां अहो ! राची रह्यो ?

मैं पर का करता हूँ और विकार से लाभ होता है – ऐसा मान कर, उस विपरीत मान्यता से तेरा आत्मा प्रतिक्षण भावमरण से मर रहा है। उस मरण से बचकर यदि तुझे आत्मा का जीवन प्राप्त करना हो तो चैतन्य आत्मा की प्रतीति कर ! चैतन्य की प्रतीति के बिना चैतन्य-जीवन नहीं जिया जाता और न भावमरण से बचा जा सकता है।

व्यवहारसम्यक्त्व में भेद से नवतत्त्व की श्रद्धा है और अभेद परमार्थसम्यक्त्व में तो एकरूप अभेद आत्मा की ही प्रसिद्धि है। 'आत्मख्याति' निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण है।

हे भाई ! तुझे भगवान के निकट आना है या नहीं ? तुझे चैतन्य भगवान के साक्षात् दर्शन करना है ? तो प्रथम तुझे व्यवहारश्रद्धा साफ करना पड़ेगी। चैतन्य भगवान के दर्शन करने में पहले द्वारपालरूप में व्यवहारश्रद्धा आती है। किन्तु यदि उस द्वारपाल के पास ही रुक जायेगा तो तुझे चैतन्यभगवान के दर्शन नहीं होंगे। प्रथम नवतत्त्व को बराबर जानकर एक अभेद आत्मा के स्वभाव की ओर अंतरोन्मुखता करके प्रतीति करने से चैतन्यप्रभु के दर्शन होते हैं, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन द्वारा इस चैतन्यभगवान के दर्शन करने से तेरे भाव का अन्त आ जायेगा। चैतन्यभगवान के दर्शन बिना भव का अन्त नहीं आयेगा।

नवतत्त्व के ज्ञान में भी जो गड़बड़ करता है, वह तो अभी चैतन्यभगवान के आंगन में भी नहीं आया है; उसे चैतन्यभगवान के दर्शन नहीं होते। प्रथम रागमिश्रित विचार से जीव, अजीव को भिन्न-भिन्न मानना, वह चैतन्यभगवान का आंगन है और अभेदस्वरूप के रागरहित अनुभव सहित प्रतीति करना, वह चैतन्यभगवान के साक्षात् दर्शन हैं, निश्चयसम्यग्दर्शन है।

नवतत्त्वों में तीसरा पुण्यतत्त्व है; वह पुण्यतत्त्व को जीव को शरणभूत नहीं है। जीवतत्त्व नित्य ध्रुवरूप है और पुण्यतत्त्व क्षणिक विकार है; पुण्य के आधार से जीवतत्त्व नहीं है। जीव तत्त्व और पुण्यतत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। त्रिकाली जीवतत्त्व, पुण्य का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली तत्त्व, पुण्य का कारण हो तो पुण्य कभी दूर न हो। पुण्यतत्त्व स्वयं जीव नहीं है और जीवतत्त्व, पुण्य नहीं है। इसप्रकार दोनों तत्त्वों का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझना चाहिए।

चैतन्यदेव का सम्यग्दर्शन करने के लिए पहले वारदान के रूप में-निमित्तरूप में-व्यवहाररूप में नवतत्त्व की श्रद्धा होती है; तथापि परमार्थ सम्यग्दर्शन तो एक अभेदतत्त्व की श्रद्धा से ही होता है।

पुण्यभाव त्रिकाली आत्मा नहीं है। पुण्यभाव से आत्मा प्रगट होता है – ऐसा माना जाये तो जीव और पुण्यतत्त्व पृथक् नहीं रहते। और त्रिकाली जीवतत्त्व को पुण्य का कारण मानें तो भी जीव और पुण्यतत्त्व पृथक् नहीं रहते। दया, पूजा, भक्ति, दान, ब्रह्मचर्यादि शुभपरिणाम हैं, वह पुण्यतत्त्व है। यदि वह आत्मा हो तो आत्मा से उसकी भिन्नता निश्चित नहीं हो सकती और नवतत्त्व भी नहीं रहेंगे। जीव में जीव है और पुण्य में पुण्य है; जीव में पुण्य नहीं है, पुण्य में जीव नहीं है.....इसप्रकार प्रत्येक तत्त्व का अपना भिन्न-भिन्न लक्षण है। ऐसे नवतत्त्वों को निश्चित करना, वह तो व्यवहारसम्यक्त्व है।

पुण्यतत्त्व आत्मा नहीं है और पुण्यतत्त्व, पाप भी नहीं है। दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के भाव, वह पुण्यतत्त्व हैं, वे कहीं पाप नहीं हैं। तथापि उन दया, पूजादि के भावों को पाप मनाये तो उसे भी नवतत्त्वों की व्यवहारश्रद्धा नहीं है। अंतरस्वभाव को निश्चित करते हुए बीच में नवतत्त्व की श्रद्धा का विकल्प आये बिना नहीं रहता।

'धर्म से धन मिलता है और धन से धर्म होता है' – ऐसा अज्ञानी मानते-मनाते हैं, उन्हें जीव-अजीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। धर्म का संबंध धन के साथ नहीं है, किन्तु चैतन्य के साथ है। धन तो अजीवतत्त्व है, क्या उस अजीव से जीव को धर्म हो सकता है ? धन से धर्म तो नहीं होता, किन्तु पुण्य भी नहीं होता। धन जड़तत्त्व है और पुण्य तो जीव का मंदकषायभाव है, वे दोनों भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी जो पैसे से धर्म या पुण्य-पाप माने, उसकी व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है। श्री आचार्यदेव तो आत्मा को परमार्थश्रद्धा कराना चाहते हैं। नवतत्त्वों को जैसे हैं, वैसा विकल्प से माने, किन्तु नव भेदरहित एक परमार्थ आत्मा को श्रद्धा का विषय न बनाये तो वह भी मिथ्यात्वी है।

जिनमंदिर में भगवान के निकट हाथ जोड़ने की क्रिया हो, शरीर झुके या भाषा बोली जाये – वह जड़ की क्रिया है, उस क्रिया के कारण पुण्य नहीं है और पुण्य से धर्म नहीं है। शुभभाव से पुण्य है और अंतर में परमार्थस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से धर्म है। जैन कहलाये और साधु नाम का धारी हो, लेकिन अभी नवतत्त्व के भावों की खबर न हो, उसे वास्तव में जैन नहीं कहा जाता।

पुण्य और पाप – वह वर्तमान क्षणिक विकारी दशा है और जीव तो त्रिकाली तत्त्व है। जड़

से पुण्य-पाप नहीं है और त्रिकाली जीवतत्त्व भी पुण्य-पाप का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली जीवतत्त्व में पुण्य-पाप हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकता। इसप्रकार जीवतत्त्व में पुण्य नहीं है और अजीवतत्त्व में भी पुण्य नहीं है। पुण्य तो क्षणिक विकारी दशा है। यह सब शुद्धनय का नहीं, किंतु अभूतार्थनय का विषय है। ऐसी नवतत्त्व की श्रद्धा, सो व्यवहारसम्यक्त्व है। धर्म के आंगन में आने से व्यवहार श्रद्धा में भी इतनी स्वीकृति आ जाती है। पश्चात् एक शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करने में सम्यक् प्रतीतिरूप धर्म प्रगट होता है।

चौथा पापतत्त्व है, जगत तो पर जीव के मरने से या शरीरादि जड़ की क्रिया से पाप मानता है, लेकिन वास्तव में वह पाप नहीं है, किन्तु जीव का कलुषित भाव ही पाप है। अजीव में पाप नहीं है, पाप तो जीव की क्षणिक विकारी दशा है। जीव की अवस्था को छोड़कर पापतत्त्व बाह्य में कहीं भी नहीं रहता है। पुण्य, पाप आदि तत्त्व क्षणिक अवस्था में हैं, इससे यह नवतत्त्व वर्तमान अवस्था दृष्टि से देखने पर विद्यमान हैं - उन्हें जानना चाहिए। कुदेवादि को मानता हो और कुव्यवहार में भटकता हो, उससे छूटने के लिए और सच्चे व्यवहार में आने के लिए यह नवतत्त्व की श्रद्धा कार्यकारी है, लेकिन नवतत्त्व तो भेददृष्टि से है, इससे उनके लक्ष से परमार्थ सम्यक्त्व नहीं होता। अभेददृष्टि में तो अकेला भूतार्थ आत्मा ही है, उसकी प्रतीति, सो परमार्थ सम्यक्त्व है। जिसे ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए चैतन्योन्मुख होना है, उसे प्रथम ऐसी नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धारूप आंगन में आना पड़ेगा।

जिसने ऐसा माना है कि पुण्य से धन की प्राप्ति होती है, उसने पुण्य और अजीव को एक माना है तथा धन से धर्म होता है - ऐसा माना उसने धन यानी अजीव को और धर्म अर्थात् संवरतत्त्व को एक माना है और कोई पुण्य से धर्म माने तो उसने भी पुण्य और संवरतत्त्व को एक माना है। वे सब मान्यताएँ मिथ्या हैं। जिसे नवतत्त्वों की श्रद्धा भी यथार्थ नहीं है, उसका तो आंगन भी स्वच्छ नहीं है, वह चैतन्यगृह में प्रविष्ट नहीं हो सकता अर्थात् उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए नवतत्त्वों को यथावत् मानना चाहिए।

मुक्ति और संसार

(लींबड़ी शहर में वीर सं. 2476, पौष शुक्ला 4 के दिन पद्म एकत्व अधिकार गाथा 32 पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन)

1. आत्मा अनादिकालीन है, अभी तक का अनंतकाल उसने कहाँ निकाला ? उसकी कभी मुक्ति नहीं हुई, किन्तु अज्ञानरूप से संसार में ही परिभ्रमण किया है। अनंतकाल से एक क्षणमात्र भी आत्मतत्त्व को लक्ष में नहीं लिया। रागादि से और पर से भिन्न जैसा एकत्व चैतन्यस्वभाव है, वैसा ही यदि सत्समागम से जाने तो उसका अनुभव हुए बिना न रहे। और ऐसा अनुभव प्रगट किये बिना तीन काल में मुक्ति नहीं है। चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव कैसे हो उसकी यह बात है।

2. इस एकत्व अधिकार के 22वें श्लोक में आचार्यदेव कहते हैं कि निश्चय से जो एकत्वरूप अद्वैत आत्मस्वभाव है, वही परम अमृत है, मोक्ष है, और व्यवहार से कर्मों द्वारा किया गया जो द्वैत है, वह संसार है। आत्मा अनादि-अनंत है, वह किन्हीं संयोगों से उत्पन्न नहीं हुआ है और न उसका कभी नाश होता है, वह ज्ञानस्वभाव से सदैव एकरूप है और उसकी अवस्था में जो राग-द्वेष होता है, वह उसका मूल स्वरूप नहीं है, किन्तु द्वैत है - ऐसा समझ कर एकत्वस्वभाव का आश्रय करना, वह परम अमृत है, उसमें संसार दूर हो जाता है और मोक्ष दशा प्रगट होती है।

3. जिसप्रकार कोई मनुष्य सान पर लोहे को घिसता है, वहाँ घिसते-घिसते देखता जाता है कि लोहे में कितनी चमक आई है और कितनी जंग दूर हुई है। उसीप्रकार आत्मा में राग-द्वेष और पुण्य-पाप जंग जैसे हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा तो चमकती ज्योति है। इसप्रकार राग-द्वेष रहित चैतन्यस्वभाव क्या है, उसे जानकर अनुभव करे तो प्रत्येक पर्याय में राग-द्वेष विकार दूर होता जाता है और चैतन्य प्रकाश प्रगट होता है। साधक जीव यह जानता है कि अपनी पर्याय में से कितना विकार दूर हो गया और कितनी निर्मलता प्रगट हुई है।

4. आत्मा का स्वभाव क्या है और विकार क्या है, उसका अनुभव से विवेक करना चाहिए। यह विवेक प्रगट हुए बिना राग-द्वेष दूर होकर चैतन्य में लीनता नहीं होती। मक्खी जैसा

प्राणी भी मिश्री और फिटकरी के स्वाद का विवेक करके फिटकरी पर नहीं किन्तु मिश्री पर जाकर बैठती है और मिश्री के स्वाद में लीन होती है, उसीप्रकार विकार का स्वाद अनाकुल है, उसका जिसे विवेक हुआ है, वह विकार के स्वाद को छोड़कर आत्मस्वभाव के स्वाद में लीन होता है। शरीरादि संयोगों का तो आत्मा में अभाव है और पुण्य-पापादि मलिन भाव हैं, उन्हीं को जो आत्मा मानता है, उसे मलिनतारहित चैतन्यस्वाद का अनुभव नहीं होता। मैं ज्ञानमूर्ति पवित्र सहजानंद हूँ - ऐसे स्वभाव का श्रवण-मनन और रुचि करे तो उसका अनुभव और लीनता हुए बिना न रहे। सम्यक्श्रद्धा के बल से शरीर-मन-वाणी और राग-द्वेष रहित शुद्ध, अनादि-अनंत एकरूप चैतन्यस्वभाव हूँ - ऐसी प्रतीति होने से उसके आनंद का अनुभव प्रगट होता है।

5. कोई प्रश्न करे कि हमें पहले क्या करना चाहिए ? तो उसका उत्तर यह है कि प्रथम समागम से आत्मा की यथार्थ पहिचान करना चाहिए। अपना स्वभाव क्या है और परभाव क्या है ? उसका विवेक करना चाहिए।

6. यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा के एकत्वस्वभाव का भान और अनुभव हो, वह परम अमृत है। राग है, वह मैं हूँ, जड़ की क्रिया मैं करता हूँ और व्यवहार के आश्रय से कल्याण होता है - ऐसी मान्यता विष समान है, संसार का कारण है और विकाररहित एकत्व चैतन्य - स्वभाव की प्रतीति करके उसका आश्रय करना, वह परम अमृत है, मोक्ष का कारण है।

7. मैं शरीरादि जड़ की क्रिया से भिन्न हूँ, मेरा धर्म जड़ की क्रिया में नहीं है, ऐसा भी जिसे भान नहीं है, उसे विकाररहित ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती ही नहीं। जड़-चेतन के भिन्नत्व का भी जिसे भान नहीं है और शरीर की क्रिया मैं करता हूँ - ऐसा मानता है तथा उस क्रिया से और पुण्य से धर्म मानता है, वह मंदकषाय से पुण्यभाव करे तथा जड़ की क्रिया का और विकार का स्वामी होकर मिथ्यात्व की पुष्टि करता है और मैं शरीरादि जड़ से त्रिकाल भिन्न हूँ, उनकी क्रिया का मैं कर्ता नहीं हूँ तथा पुण्य-पाप के भाव होने पर भी वह मेरा यथार्थस्वरूप नहीं है, उससे मेरा धर्म नहीं होता, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ - ऐसी यथार्थ प्रतीति, वह धर्म का प्रारम्भ है। इसके अतिरिक्त दयादिभावों में क्रोधादि की मंदता हो, वह भी चैतन्य से विकृतभाव है, द्वैतभाव है, उससे भी आत्मा समझ में नहीं आता। विकाररहित अकेले ज्ञानमूर्ति आत्मा के स्वभाव की प्रतीति छोड़कर जितने पुण्य-पापरूप द्वैतभाव करे, उनसे संसारपरिभ्रमण होता है। चैतन्य के पवित्र स्वभाव का

आदर छोड़कर व्यवहार को अर्थात् पुण्य या संयोग को अपना मानने से संसार परिभ्रमण होता है। इस एकत्व अधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा के एकत्वस्वभाव का अवलंबन, वह मुक्ति का कारण है और एक वस्तु को दूसरी के अवलम्बन का भाव, सो संसार है।

8. चैतन्यस्वभाव की रुचि किसी संयोग की अपेक्षा नहीं रखती। कोई अनुकूल संयोग चैतन्य की रुचि प्रगट करने में सहायक नहीं होते और न कोई प्रतिकूल संयोग चैतन्य की रुचि में विघ्न करते हैं। अंतरस्वभाव सन्मुख होकर चैतन्यस्वभाव की रुचि और लीनता करे तो अनंत प्रतिकूलता आ जाने पर भी उसकी रुचि और लीनता नहीं हटती। बाह्य की अनुकूलता-प्रतिकूलता से सुख-दुःख नहीं है। शरीर में रोग हो, वह दुःख का कारण नहीं है, क्योंकि रोग के प्रमाण में दुःख नहीं होता, किन्तु जितना ममत्व करे, उतना दुःख होता है। किसी को भयंकर रोग हो, किन्तु ममत्व कम हो तो उसे अल्प दुःख होता है और किसी को रोग छोटा-सा हो और ममत्व अधिक करे तो उसे अधिक दुःख होता है - इसप्रकार ममत्व के प्रमाण में दुःख होता है, संयोग के प्रमाण में नहीं। अज्ञानी को तो संयोग में एकत्वबुद्धि है, इसलिए संयोग को दुःख का कारण मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करता है, किन्तु राग-द्वेष में होनेवाले एकत्व को वह नहीं छोड़ता।

(अपूर्ण)

सौराष्ट्र का एक जागृत तीर्थधाम -

सोनगढ़

1. सोनगढ़ की विशेषता

सोनगढ़ में परमपूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी विराजमान हैं। वे निरन्तर आध्यात्मिक उपदेश देकर जिज्ञासु जीवों पर महान उपकार कर रहे हैं। उनके कल्याणकारी उपदेश का लाभ लेने के लिए भारतवर्ष में से दूर-दूर के अनेक जिज्ञासु आते हैं और उनकी अपूर्व वाणी का श्रवण करके अपने को धन्य मानते हैं। सोनगढ़ के संबंध में पूर्ण जानकारी न होने से किन्हीं जिज्ञासुओं को कठिनाई पड़ती है। इससे यहाँ सोनगढ़ के संबंध में कुछ विवरण दिया जा रहा है।

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के उच्च आध्यात्मिक उपदेश के श्रवण का अपूर्व लाभ प्राप्त होना, यह सोनगढ़ की सबसे मुख्य विशेषता है। सोनगढ़ में श्री समयसार, प्रवचनसार आदि शास्त्रों पर प्रतिदिन सबेरे और शाम को नियमित पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन होते हैं। इसके अतिरिक्त सारे दिन विविध विषयों पर तत्त्वचर्चा चलती ही रहती है। जिज्ञासुओं को शंका-समाधान के लिए रात्रि को एक घंटे का समय खास तौर से रखा गया है। पहले सोनगढ़ में जैनियों की कोई खास बस्ती नहीं थी। लेकिन अब पूज्य स्वामीजी के सदुपदेश का निरन्तर लाभ लेने के लिए बाहर के अनेक मुमुक्षु सोनगढ़ में स्थायीरूप से रहने लगे हैं।

2. सोनगढ़ में धर्मस्थान

सोनगढ़ में निम्नानुसार धर्म स्थान हैं -

1. श्री जिनमंदिर - इसमें श्री सीमंधर भगवान मूलनायकरूप से विराजमान हैं, उनकी प्रतिमा अत्यन्त भव्य एवं भाववाहिनी है। मंदिर के पीछे वाले भाग में श्री नेमिनाथ भगवान विराजमान हैं। प्रतिदिन दोपहर के प्रवचन के बाद यहाँ सामूहिक भक्ति होती है।

2. श्री समवशरण मंदिर (धर्म सभा) - इसमें भगवान श्री सीमंधर भगवान के समवशरण का तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सीमंधर भगान के दर्शन कर रहे हैं, उसका सुन्दर दृश्य

है। यह समवशरण सारे सौराष्ट्र में एक दर्शनीय धार्मिक वस्तु है। दूर-दूर के भक्तजन इस समवशरण की रचना देखकर अति प्रसन्न होते हैं।

3. जैन स्वाध्याय मंदिर – इसमें पूज्य श्री कानजी स्वामी विराजते हैं तथा श्री समयसारजी की स्थापना भी है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रतिदिन के प्रवचन और तत्त्वचर्चा इसी स्वाध्याय मंदिर में होती है। स्वाध्याय मंदिर की दीवारें अनेक धार्मिक सूत्रों एवं चित्रों से सुशोभित हैं।

4. भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप – मुख्य धार्मिक प्रसंगों पर जब बाहर के हजारों जिज्ञासु एकत्रित होते हैं, उस समय इसी मंडप में प्रवचन होते हैं। तदुपरान्त हजारों पुस्तकों के संग्रहरूप 'सरस्वती भंडार' भी इसी प्रवचन मंडप में हैं। सुन्दर धार्मिक चित्र औ सूत्रों से तथा कलात्मक भव्य प्रवेश द्वार से यह मंडप अत्यन्त शोभायमान और दर्शनीय है।

5. श्री कुन्दकुन्द श्राविकाशाला – यह स्थान महिलाओं के स्वाध्यायादि के लिए तैयार हुआ है।

6. श्री जैन अतिथि सेवा समिति – इसमें बाहर से आनेवाले जिज्ञासु-अतिथियों के लिए ठहरने एवं भोजनादि की व्यवस्था है।

3. सोनगढ़ आने का रेलवे मार्ग –

सोनगढ़ सौराष्ट्र का एक रेलवे स्टेशन है। दिल्ली की ओर से आने वालों को महेसणा, वीरमगाम और वढवाण जंक्शन होकर भावनगर की ओर जाते हुए बीच में धोला जंक्शन के बाद सोनगढ़ आता है। दिल्ली की ओर से आनेवालों को बीच में अहमदाबाद जाने की आवश्यकता नहीं है।

(मुम्बई से भावनगर प्रतिदिन एरोप्लेन-सर्विस चलती है, उसके द्वारा भावनगर होकर सोनगढ़ जल्दी से जल्दी पहुँचा जा सकता है।)

4. सोनगढ़ के समीपस्थ तीर्थधाम –

पालीताना (पांडवों का मुक्तिधाम : शत्रुंजय) और (श्री नेमिनाथ भगवान की कल्याणक भूमि : गिरनार) – यह दोनों तीर्थधाम सोनगढ़ से अत्यन्त निकट हैं और दोनों जगह के लिए ट्रेन

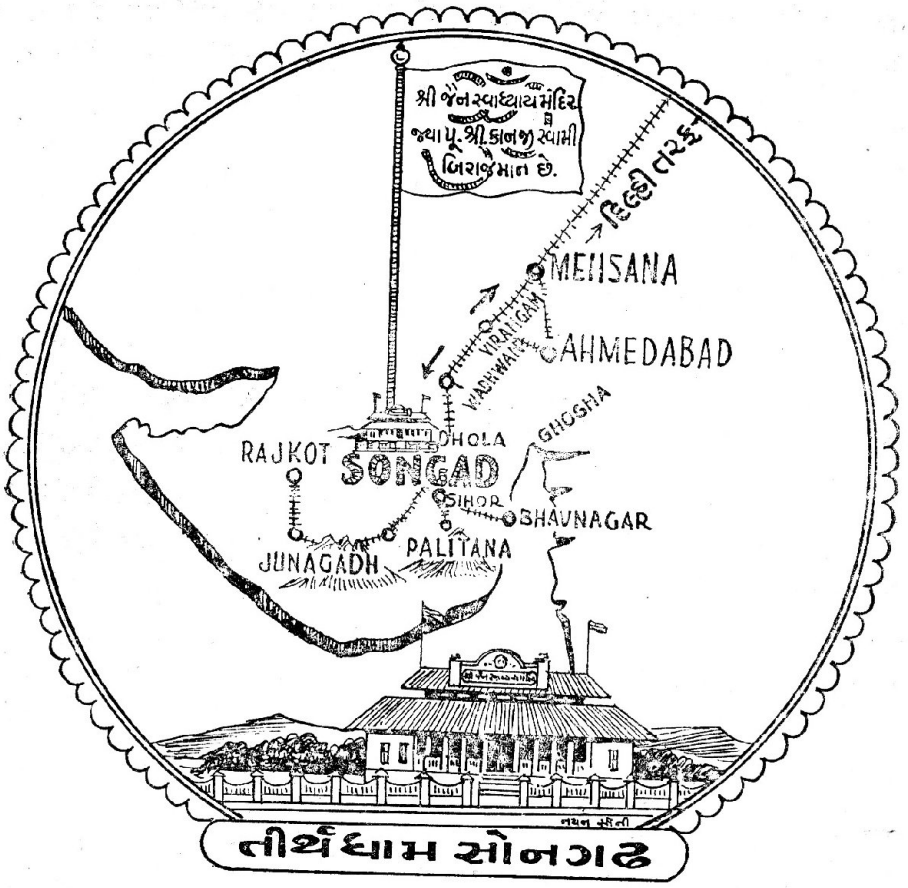

जाती है। श्री गिरनारजी और शत्रुंजय की यात्रा के लिए आनेवाले जिज्ञासुओं की सोनगढ़ की यात्रा करके पूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक उपदेश का और सोनगढ़ के तीर्थधामों के दर्शनों का लाभ अवश्य लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त सोनगढ़ से भावनगर होकर घोघा बंदर की यात्रा भी निकट ही है। घोघा में प्राचीनकाल की दि. जैन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। सौराष्ट्र के कई शहरों (राजकोट, वढवाण, सुरेन्द्रनगर, चोटीला, वोटाद, राणपुर, लाठी, भावनगर, वींछिया, सावरकुंडला) में श्री दिगम्बर जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं।

5. सोनगढ़ और मोटा आंकड़िया

सोनगढ़ कोई बड़ा भारी शहर नहीं है, किन्तु छोटा-सा गाँव है.....शांतिमय निवृत्तिधाम है। सोनगढ़ नाम के दूसरे भी ग्राम हैं, इसलिए सोनगढ़ के साथ सौराष्ट्र लिखना आवश्यक है।

जिज्ञासुओं को खास ध्यान में रखना चाहिए कि 'मोटा आंकड़िया' और 'सोनगढ़' यह दोनों ग्राम बिलकुल अलग हैं, मोटा आंकड़िया में तो अनेकान्त मुद्रणालय नाम का प्रेस है, जहाँ 'आत्मधर्म' मासिक पत्र तथा अन्य पुस्तकें छपती हैं, किन्तु पूज्य स्वामीजी के सत्समागम का लाभ लेने के लिए तो सोनगढ़ ही आना पड़ेगा।

6. सोनगढ़ के प्रकाशन

'आत्मधर्म' नामक मासिक पत्र के द्वारा हिन्दी और गुजराती – दोनों भाषाओं में पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचनों का सार प्रगट किया जाता है। हजारों जिज्ञासु पाठक उसका लाभ ले रहे हैं। प्रत्येक जिज्ञासु को जैनदर्शन का सच्चा रहस्य जानने के लिए आत्मधर्म का ग्राहक अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त गुजराती भाषा में श्री 'सद्गुरु-प्रवचन-प्रसाद' नाम की एक हस्तलिखित दैनिक पत्रिका भी निकलती है, उसमें पूज्य स्वामीजी के प्रतिदिन के प्रवचन प्रकाशित होते हैं।

और इस संस्था द्वारा उच्च आध्यात्मिक साहित्य का प्रकाशन होता है, उसमें 'भगवान श्री कुन्दकुन्द कहान जैन शास्त्रमाला' द्वारा 55 प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, उनमें कई पुस्तकें हिन्दी भाषा में भी हैं। पूज्य स्वामीजी के समयसार पर जो प्रवचन छपे हैं, उनमें से कम से कम एक पुस्तक प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य ही पढ़ना चाहिए।

7. सोनगढ़ में धार्मिक शिक्षणवर्ग –

गर्मी की छुट्टियों में विद्यार्थियों को जैन तत्त्वज्ञान का अभ्यास कराने के लिए प्रतिवर्ष एक 'जैनदर्शन शिक्षणवर्ग' खोला जाता है, वह लगभग 25 दिन तक चलता है और तत्पश्चात् उसकी परीक्षा ली जाती है। इस वर्ग में अनेक स्थानों के सैंकड़ों विद्यार्थी लाभ लेते हैं। विद्यार्थियों के भोजन और पुस्तकों की व्यवस्था संस्था की ओर से की जाती है।

एक दूसरा शिक्षणवर्ग प्रौढ़ अवस्था के गृहस्थों के लिए श्रावण महीने में खोला जाता है, वह लगभग 20 दिन तक चलता है। उसमें भी बाहर के अनेक जिज्ञासु लाभ लेते हैं।

8. सोनगढ़ में धार्मिक उत्सव –

सामान्य धार्मिक पर्वों के अतिरिक्त प्रतिवर्ष निम्न दिवसों में सोनगढ़ में खास धार्मिक

उत्सव मनाये जाते हैं –

फाल्गुन शुक्ला 2 – जिनमंदिर में भगवान श्री सीमंधर स्वामी की प्रतिष्ठा का वार्षिक-महोत्सव।

वैशाख शुक्ला 2 – परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के जन्मदिवस का मंगल महोत्सव।

ज्येष्ठ कृष्णा 6- श्री समवशरण मंदिर में भगवान श्री सीमंधर स्वामी की चतुर्मुख प्रतिमाजी की तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य की प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव।

ज्येष्ठ कृष्णा 8- श्री जैन स्वाध्याय मंदिर का उद्घाटन तथा उसमें श्री समयसारजी परमागम की स्थापना का वार्षिक महोत्सव।

उपरोक्त प्रत्येक महोत्सव में भाग लेने के लिए जिज्ञासु लोग बाहर से अच्छी संख्या में आते हैं।

आत्मिक कल्याण की भावनावाले तत्त्व के जिज्ञासुओं को सत्समागम का सीधा लाभ लेने के लिए अवश्य ही सोनगढ़ के जागृत तीर्थधाम की यात्रा करना चाहिए।

टाइटिल पृष्ठ 2 का शेषांश

लोगों ने बाह्य में धर्म मान लिया है और उपदेशक भी वैसे मिल जाते हैं। 'पुण्य बाँधकर देवलोक में जाएँगे, वहाँ सुख भोगेंगे और भगवान के पास जाकर धर्म श्रवण करेंगे' – आदि विकल्प करते हैं। किन्तु स्वयं भगवान हैं, पर से भिन्न, निरावलम्बी हैं, उस स्वतंत्र स्वभाव को नहीं मानता, वह भगवान के पास जायेगा ही काहे को ? और कदाचित् पहुँच भी गया, तो भी क्या सुनेगा ? (इस समय स्वभाव की बात सुनकर जो उसका विरोध करता है, वह भगवान के पास जाकर भी विरोध करेगा।)

निरपेक्ष आत्मतत्त्व के ज्ञान बिना जीव, मोह में फंसे हुए हैं और संसार का भार ढो रहे हैं। भले ही 'त्यागी' नाम धारण कर ले, साधु हो या गृहस्थ हो, किन्तु जिसकी दृष्टि देह पर है, वह देह की क्रिया को अपना मानकर, पुण्य-पाप का भार ढोकर अनंत संसार में परिभ्रमण करता है। मनुष्य मानें या न मानें लेकिन सत्य तो कहना ही पड़ेगा; सत्य को छुपाया नहीं जा सकता।

(समयसार-प्रवचन से)

बड़ौत निवासी लाला दिलीपसिंहजी की सुपुत्री विमलादेवी
के शुभ विवाहोपलक्ष्य में आत्मधर्म को 11) भेंटस्वरूप मिले हैं।
धन्यवाद!

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-1) [पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन]	मूल्य 6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2) [पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन]	मूल्य 6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-3, 4)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार [पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन]	छप रहा है।
जैन बालपोथी	0-4-0
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	0-10-0
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	0-12-0
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	2-10-0
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	0-12-0
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	1-2-0
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	6-2-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

[इस शास्त्रमाला की 54 पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)